

स्त्री के दोयम स्तर के लिए कौन उत्तरदायी: जैविक या सामाजिक परिस्थितियाँ

डॉ. सीमा सिंह

सहायक प्रवक्त्री (हिन्दी विभाग)

दयानंद महिला महाविद्यालय

कुरुक्षेत्र, हरियाणा, भारत

ईमेल:- seemasingh0105@gmail.com

दूरभाष: 9416935505

संक्षेपिका

स्त्री-विमर्श किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है। इसके सरोकार स्त्री के जीवन में आत्मसम्मान, आत्मनिर्भरता और आत्मनिर्णय लेने की क्षमता से जुड़े हुए हैं। स्त्री-विमर्श का संघर्ष आधी दुनिया को मनुष्य का दर्जा दिलवाने का संघर्ष है। उसके मनुष्यत्व की स्वीकार्यता इस विमर्श का मूल प्रश्न है, प्रस्तुत शोध-पत्र स्त्री-विमर्श के इसी मूल प्रश्न पर केन्द्रित है। स्त्री मुक्ति का अर्थ पुरुष हो जाना नहीं है, और ना ही पुरुषोचित गुणों को अपना लेना। स्त्री की अपनी प्राकृतिक पहचान है। उसकी अपनी विशेषताएं और गुण हैं। पितृसत्तात्मक मानसिकता ने उसे इस पहचान से वंचित करके मात्र स्त्रीत्व के बन्धनों में बाँधा है। स्त्री और पुरुष में जैविक भिन्नता उनको स्त्री और पुरुष के रूप में स्वतंत्र पहचान व भिन्नता प्रदान करती है, न कि स्त्री को दोयम श्रेणी का मानव घोषित करती है। ये दर्जा उसे सामाजिक मानसिकताओं, परम्पराओं एवं रूढ़ियों ने दिया है। उसकी अधीनस्थ की भूमिका असमानता को जन्म देती है। वह उसके शोषण के लिए दूसरों को सुलभ अवसर प्रदान करती है और फिर स्त्री एक ऐसी मादा में परिवर्तित हो जाती है जिसकी जिन्दगी रोटी, कपड़ा और मकान की उपलब्धता के अहसान तले सीमित हो जाती है। इस शोध-पत्र में स्त्री के दोयम दर्जे के लिए प्राकृतिक कारणों के साथ-साथ सामाजिक –ष्टिकोणों पर भी प्रकाश डाला गया है।

कुंजी शब्द:- स्त्री-विमर्श, स्त्री, पुरुष, पितृसत्तात्मक, सामाजिक, मानसिकता, परम्पराएं, असमानता, प्राकृतिक, लैंगिक अंतर, गुणसूत्र, परम्परागत अवधारणा, पूर्वाग्रहों, –ष्टिकोण।

शोधपत्र

आरम्भ से ले कर आज तक स्त्री-विमर्श किसी न किसी रूप में प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है। इसका प्रमुख कारण समाज में स्त्री की दोयम स्थिति के कारणों की पहचान करना और स्त्री के जीवन में उसके आत्मसम्मान, आत्मनिर्भरता और आत्मनिर्णय लेने की क्षमता के बारे में विचार करना है। स्त्री-विमर्श का प्रश्न और प्रमुख संघर्ष सृष्टि की आधी दुनिया के प्राकृतिक अधिकारों का संघर्ष है। यह संघर्ष स्त्री को सम्पूर्ण मनुष्य की पहचान दिलवाने का संघर्ष है। स्त्री-मुक्ति का अर्थ कहीं भी पुरुष जैसा हो जाना या उस जैसा समझा जाना नहीं है, और ना ही पुरुषोचित गुणों को अपना लेना है। बल्कि इसका उद्देश्य स्त्री की अपनी प्राकृतिक पहचान का विश्लेषण करना है। स्त्री की अपनी एक प्राकृतिक पहचान है, उसकी अपनी क्षमताएं, विशेषताएं और गुण हैं। पितृसत्तात्मक मानसिकता ने उसे उसकी प्राकृतिक पहचान से वंचित करके मात्र स्त्रीत्व तक बाँध दिया है। जीव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्त्री और पुरुष में जैविक भिन्नता केवल उनको स्त्री और पुरुष के रूप में स्वतंत्र पहचान व भिन्नताएं प्रदान करती है, न कि स्त्री को दोयम श्रेणी का मानव घोषित करती है। ये दर्जा उसे सामाजिक मानसिकताओं, परम्पराओं एवं रूढ़ियों ने दिया है। उसकी यह अधीनस्थ भूमिका समाज में असमानता के साथ-साथ अनेक

सामाजिक बुराइयों को भी जन्म देती है। यहीं से उसके शोषण के चक्र का आरम्भ हो जाता है। परिणामस्वरूप स्त्री केवल एक मादा में परिवर्तित हो जाती है, जिसकी जिन्दगी केवल रोटी, कपड़ा और मकान की उपलब्धता के अहसान तले सीमित हो जाती है।¹ उसके बदले उसे हर समय अपमानित किया जा सकता है। उसे हमेशा के लिए दूसरों पर आश्रित हो जाना पड़ता है। माँ, बहन, बेटी व पत्नी की भूमिकाओं में सिमटी स्त्री अपनी स्वतंत्रता के अवसर कम करती है। ये भूमिकाएं उसे अपने स्वयं के स्वतंत्र व्यक्तित्व से दूर करके उसकी प्राथमिकताओं को बदल देती हैं। उसे अपना सारा ध्यान अपनी इन्हीं प्राथमिकताओं को पूरा करने पर लगाना होता है। इससे समाज की आदर्श छवि का निर्माण किया जाता है। अपना सबकुछ परिवार पर न्यौछावर करने वाली स्त्री की पूजा करने का विधान किया जाता है और स्त्री का अपना सारा जीवन इस छवि पर ही केन्द्रित हो जाता है। इसका सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि समाज द्वारा दे दी गई अपनी इस आदर्श छवि को सुरक्षित रखने में वह अपनी प्राकृतिक क्षमताओं, सम्भावनाओं और प्रतिभा को भुला देती है।

स्त्री एवं पुरुष का प्राणीशास्त्रीय तथ्यों के आधार पर अगर अध्ययन किया जाए तो जैविक दृष्टिकोण व शोध, स्त्री और पुरुष को लैंगिक अंतर तक सीमित करते हैं। यह अंतर उनके कार्यकलापों को कितना और कहां तक व किस प्रकार से भिन्न करता है, यह शोध का विषय हो सकता है। इस शोध-पत्र को इस विषय पर केन्द्रित किया गया है कि स्त्री-पुरुष की असमानता के लिए जैविक भिन्नता उत्तरदायी हैं या सामाजिक परिस्थितियां।

पहले हम बात करते हैं, विज्ञान के अनुसार स्त्री और पुरुष की जैविक संरचना के सन्दर्भ में। मनुष्य शरीर की कोशिकाएं 23 जोड़ी गुणसूत्रों के साथ एक जोड़ी XX जो इनके जैसी ही दिखती है, लिंग का निर्धारण करती हैं। वह स्त्री लिंग को सुनिश्चित करती है, जबकि XY गुणसूत्रों की जोड़ी पुरुष गुण की होती है। महिलाओं में दोनों X गुणसूत्र होने के कारण स्त्रियों के विकास के लिए एक ही तरह के जीन की दो प्रतियां हो जाती हैं, जो रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाती हैं। पुरुषों का सेक्स हार्मोन रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने की बजाय उनके लिए रोग का खतरा बढ़ाता है।² इस तरह से जैविक संरचना कहीं भी स्त्री को पुरुष से कमतर नहीं आंकती बल्कि स्त्री को मजबूत स्थिति में दर्शाती है। अब सवाल यह उत्पन्न होता है कि जब स्त्री जैविक दृष्टि से मजबूत स्थिति में है तो उसे कमजोर दर्शाने वाले कौन से कारक हैं?, उसे कमतर आंकने के पीछे कारण क्या हो सकते हैं?, समाज क्यों अपनी ही शक्ति को कमजोर करने का प्रयास करता है, जहां महिलाओं की ताकत और बुद्धि का इस्तेमाल विश्व को विकसित करने में हो सकता है, वहां उस ताकत को नजरअन्दाज क्यों किया जाता है, जैविक रूप से अगर देखा जाए तो महिलाओं को प्रकृति की तरफ से मजबूत रक्षा प्रणाली मिली है।

1969 में अपराध शास्त्रियों ने Y गुणसूत्र के बारे में टिप्पणी करते हुए कहा कि हिंसक अपराधों के दोषी कैदियों में XYY गुणसूत्र वाले पुरुषों का अनुपात बहुत ज्यादा था। इन लोगों में मिलने वाला एक फालतू Y गुणसूत्र मानसिक क्षमता में कमी से जुड़ा लगता है। 1969 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में आयोजित क्रॉपवुड कान्फ्रेंस ऑन क्रिमिनोलॉजिकल इम्प्लिकेशंस ऑफ क्रोमोजोनल एबनॉर्मलिटिज में इस विषय पर विषद चर्चा हुई। XYY पर 500 से ज्यादा प्रकाशन उपलब्ध हैं।³ इसी तरह XXY गुणसूत्र संरचना वाले लोगों को अंडाशयविहीन स्त्रियां मान लिया जाता है।⁴ स्त्री और पुरुष की शारीरिक संरचना में महत्वपूर्ण भेद स्त्री के पास गर्भाशय का होना है। स्त्री वर्ष में तेरह बार उर्वरा होती है और गर्भवती बनने की सम्भावना व्यक्त करती है।⁵ गुणसूत्रों के अतिरिक्त शारीरिक विकास में विभिन्न हार्मोनों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। टेस्टोस्टीरॉन और

एंड्रोजन, पुरुष गुणों के लिए व एस्ट्रोजन, स्त्री गुणों के लिए उत्तरदायी हार्मोन हैं। टेस्टोस्टीरॉन जहाँ पुरुषों में मेस्कूलाइन बॉडी, मोटी आवाज, शरीर पर बालों की अधिकता व शारीरिक कठोरता का कारक होता है, वहीं एस्ट्रोजन और प्रोजेस्ट्रोन स्त्री में चमकीली त्वचा, मासिक धर्म और अंडाशय की सक्रियता में सहायक होता है। स्त्रियों का सेक्स हार्मोन एस्ट्राजोन धमनियों को कड़ा होने से रोकने वाला और दिल की बीमारियों की सम्भावना को कम करने वाला होता है। यह मस्तिष्क की भी रक्षा करता है और इसे अल्जाईमर रोग की चपेट में आने से बचाता है।⁶ इस शोध से पुरुषों की शारीरिक और मानसिक श्रेष्ठता की परम्परागत अवधारणा को धक्का लगा है।

महिलाओं के रक्त में शरीर की रक्षा प्रणालियों को मजबूत बनाने वाली इम्यूनोग्लोबिन की मात्रा ज्यादा होती है, जबकि पुरुषों के रक्त में हीमोग्लोबिन की मात्रा ज्यादा पाई जाती है। यह सत्य है कि पुरुष का शरीर स्त्री के शरीर की अपेक्षा अधिक गठिला होता है। वे 10 प्रतिशत अधिक लम्बे, 20 प्रतिशत अधिक भारी व 30 प्रतिशत अधिक ताकतवर होते हैं। लेकिन स्त्री के शरीर की कुछ विशेषताएं इन विषमताओं को संतुलित करती हैं। स्त्रियों का शरीर उनकी शारीरिक बनावट की वजह से थकान को ज्यादा बर्दाश्त कर पाता है, वे बिना थके लम्बे समय तक काम कर सकती हैं।⁷ 1995 में अमेरिकी सेना द्वारा स्त्री के शारीरिक बल का अध्ययन डियान हेल्स ने कराया, जिसमें विभिन्न क्षेत्रों की बेडौल शरीरवाली महिलाओं का चयन किया गया। इन महिलाओं ने मात्र 6 माहों के प्रशिक्षण के बल पर पुरुष सैनिकों के बराबर की शारीरिक कुशलता हासिल कर ली।⁸ जन्म से लेकर बड़े होने तक हम समाज में अक्सर यह सुनते आये हैं कि स्त्रियाँ कमजोर होती हैं, उनका दिमाग घुटनों में होता है, उनमें निर्णय लेने की क्षमता नहीं होती या अगर स्त्री निर्णय लेगी तो उसका परिणाम गलत ही होगा क्योंकि उसका दिमाग छोटा होता है इत्यादि-इत्यादि। अब वैज्ञानिक शोधों से यह सिद्ध हो गया है कि स्त्रियों का मस्तिष्क उनके शरीर के आकार के अनुरूप ही छोटा होता है लेकिन उनमें तन्त्रिकाओं का घनत्व पुरुषों की अपेक्षा कहीं ज्यादा होता है। वैसे भी पुरुषों का स्त्री से ज्यादा बुद्धिमान होने का कारण अगर शिक्षा है तो, पुरुष का अपने आप को श्रेष्ठ मानना ऐसा ही है जैसे दोनों हाथ बँधे पुरुष को पीटकर साहसी होने का दावा करना।⁹ स्त्री जाति में हीनताबोध का कारण प्रारम्भिक जीवन के वो अनुभव होते हैं जिसमें वह अपने सामने घर के लड़कों और पुरुषों को अपने से ज्यादा महत्व पाते हुए देखती है। सामाजिक व्यवस्था जहाँ लड़के में वैयक्तिक स्वतंत्रता स्थापित करने हेतु उसे अवसर प्रदान करती है, इसके विपरीत लड़की को स्वायत्तता के अवसर कम मिलते हैं। उसकी स्थितियों और वस्तुओं पर पकड़ इसलिए ढीली होती है क्योंकि उसके बारे में निर्णय हमेशा दूसरों ने लिया होता है। दूसरों द्वारा लिए गए निर्णय उसे निजी स्तर पर ना सिर्फ कमजोर करते हैं बल्कि उसे जीवन की कठिनाइयों और विभिन्न परिस्थितियों के लिए मानसिक रूप से सक्षम होने में भी बाधा बनते हैं। वह मानसिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं हो पाती परन्तु समाज में ऐसी भी बहुत सी महिलाओं के उदाहरण हैं जो आर्थिक रूप से बहुत कमजोर होने के बावजूद भी उन्होंने अपनी कड़ी मेहनत के बलबूते पर अपने पूरे परिवार का भरण-पोषण किया। अक्सर देखने में आता है कि अगर पत्नी की मृत्यु हो जाए तो पति बच्चों की जिम्मेदारी के नाम पर आराम से दूसरी शादी कर लेता है जबकि महिला अपने बच्चों की जिम्मेदारी ठीक से निभाने के लिए दूसरी शादी से कतराती है और सभी प्रकार की कठिनाइयों से पार पा कर अपनी जिम्मेदारियों को पूरा भी करती है।

स्त्री के दिमाग की ही तरह उसके शारीरिक ढाँचे को छोटा और कमजोर माना जाता रहा है। कहा जाता रहा है कि उसकी हड्डियाँ पुरुषों के मुकाबले बहुत कमजोर होती हैं, यह बात उनके लिए दोष नहीं बल्कि गुण

होती है। यह उसे अपेक्षित लचीलापन देती है जिससे वह स्त्री को स्थिति के अनुरूप ढलने में मदद करती है। ढाँचे के आकार से हम शारीरिक शक्ति या मानसिक क्षमता के बारे में कोई धारणा नहीं बना सकते।¹⁰ स्त्री के मासिक धर्म को लेकर भी पुरातन से लेकर आधुनिक समाज अनेक पूर्वाग्रहों से ग्रसित रहे हैं। स्त्री के मातृत्व का जहाँ सभी संस्कृतियों में यशोगान किया गया है, वहीं प्रजनन एवं मासिक धर्म के प्रति हमारे समाज, परम्परा और धर्म का दृष्टिकोण उपेक्षा और ग्लानि के भाव भरने वाला रहा है। यद्यपि सिल्विया प्लाथ एवं भारतीय लोकगीतों में इस पर खुल कर चर्चा हुई है।¹¹ लगभग सभी धर्मों में रजस्वला स्त्री को अशुद्ध व अपवित्र मानते रहे हैं। कितनी अजीब बात है कि पुरुष पौरुषीय गरिमा के साथ बढ़ता है और स्त्री का बड़ा होना छिपाया जाता है। आज भी मासिक धर्म को लड़कियाँ अपने लिए शर्म से जोड़ कर ही देखती हैं, यहाँ तक कि अपने लिए पैड खरीदते समय लड़कियाँ स्वयं और देते समय दुकानदार, दोनों ही असहज हो जाते हैं।

इस प्रकार सहज ही कहा जा सकता है कि प्राणी शास्त्रीय स्थिति तो मानव को नर और मादा के रूप में रूपायित करती है, परन्तु सामाजिक संरचना उसे विशिष्ट स्थिति प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। या यूँ कह सकते हैं कि सामाजिक परिस्थितियाँ उसे स्त्री और पुरुष में विभाजित करती हैं। जैविक अर्थों में हम नर और मादा की तरह पैदा होते हैं लेकिन हमें सामाजिक मान्यता प्राप्त लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुष बना दिया जाता है।¹² इतिहास की यह सच्चाई निर्विवाद है कि परस्पर विरोधी वर्गों वाली सभी सामाजिक संरचनाओं में समाज और परिवार में स्त्री की स्थिति मातहत की रही है।¹³ समाज जंगलों या आदिम युग से चलकर कृषि से होते हुए रिहायश और निजी सम्पत्ति की अवधारणा तक पहुँच गया। परिवार की अवधारणा के साथ मुखिया का प्रश्न आया और पुरुष परिवार का संचालक बना। धीरे-धीरे स्त्री की भूमिका सीमित होती चली गई। पुरुष उत्पादक शक्ति के रूप में उभरा तो स्त्री सन्तानोत्पत्ति और उनके पालन-पोषण की प्रतीक बनी। पारिवारिक श्रम अब भी श्रम के वर्तमान यौन-विभाजन की नींव का पत्थर है जिसमें औरतों का मुख्य दायित्व घरेलू कामकाज और पुरुषों का वैतनिक कार्य है।¹⁴ धीरे-धीरे पुरुष ने धरती पर अधिकार के लिए उत्तराधिकार एवं स्त्री की देह पर अधिकार के लिए विवाह संस्था¹⁵ का सहारा लिया। पुरुष ने ना तो विचार में, ना श्रम में और ना ही सन्तानोत्पत्ति में स्त्री का साझा स्वीकार किया। उसने स्त्री को एक निष्क्रिय और अक्षम साथी की भाँति स्वीकार किया, जिसकी देखभाल का दायित्व पुरुष पर ठीक उसी प्रकार था जिस प्रकार पशुधन एवं जमीन की देखभाल का था। पशुधन, जमीन-जायदाद और स्त्री के साथ-साथ सन्तान भी पुरुष की सम्पत्ति और ताकत थी।¹⁶ इस प्रकार स्त्री को पहचान रिश्तों के रूप में ही मिली, वह माँ, बहन, बेटी तो हो सकी पर एक स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं बन पाई।

उसके श्रम को महत्वहीन और उपेक्षित समझा गया है क्योंकि उसका कोई विनिमय मूल्य नहीं होता। घरेलू श्रम ऐसा ही श्रम है। प्रजनन, बच्चों के पालन-पोषण और घर गृहस्थी में लगने वाले श्रम को सामाजिक रूप से आवश्यक उत्पादन का महत्वपूर्ण और विस्तृत हिस्सा होते हुए भी वास्तविक श्रम इसलिए नहीं समझा जाता क्योंकि यह मूल्य और बाजार से सीधा नहीं जुड़ा होता। दूसरी तरफ पुरुष का श्रम, मूल्य, विनिमय और बाजार से जुड़ा होने के कारण महत्व पाता है। पुरुष घरेलू श्रम से दूरी बनाए रखते हैं क्योंकि वह गैर जरूरी और महत्वहीन लगता है। अगर पुरुष ऐसे स्त्रियोचित समझे जाने वाले कार्यों को करते भी हैं तो केवल तब जब उससे पैसे कमाने के अवसर हों। इस प्रकार हम एक ऐसे समाज में रह रहे हैं जहाँ श्रम का महत्व उसके मूल्य से निर्धारित होता है।

सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य भी आर्थिक रूप से जुड़ा न होने के कारण दोगुना दर्जा प्राप्त कर लेता है और ऐसे काम से जुड़ी होने के कारण स्त्री भी स्वाभाविक रूप से दोगुना दर्जे की अधिकारिणी हो जाती है।

सदियों से स्त्री के लिए सबसे संगत गतिविधि परिवार के लिए स्वस्थ और आरामदेह वातावरण का निर्माण करना माना गया है। व्यक्ति के स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति को अर्थार्जन का अधिकार है, लेकिन स्त्री के श्रम का अस्वीकार, आधी श्रम शक्ति को व्यर्थ करता है।¹⁷ आधुनिकता एवं भौतिकतावादी मनोस्थितियों ने स्त्री के लिए भी मूल्य आधारित श्रम की परिस्थितियाँ उपलब्ध करवाई हैं। अब स्त्रियों का नौकरी करना सम्मान की नजर से देखा जाने लगा है। परन्तु इससे स्त्रियों के श्रम का समय दोगुना हो गया है। उन परिवारों में जहाँ स्त्रियाँ नौकरी करती हैं, वहाँ वे गृह कार्य से मुक्त नहीं हो पाई हैं। कमाऊ औरतों के लिए दोहरा दिन एक सच्चाई है।¹⁸ एक तरफ कार्यस्थलों पर उनसे अधिक ईमानदारी की अपेक्षा की जाती है तो दूसरी तरफ परिवार की भी उनसे अपेक्षाएं बढ़ गई होती हैं। उनसे ज्यादा सुघड़ता एवं साफ-सफाई व अनुभवजन्य अपेक्षाएं बढ़ जाती हैं। यहां पर समाज द्वारा स्थापित दोगुना दर्जा स्त्री के लिए और भी क्रूर रूप धारण कर लेता है। पुरुष काम से लौटे तो, थका हुआ है, उसे आराम करने दो, स्त्री काम से लौटे तो, चाय बना दो, शाम को खाने में क्या है, आदि-आदि ना जाने कितने सवाल मुंह बाए खड़े होते हैं। परन्तु इसका ये अर्थ नहीं है कि उसे कमाने के अधिकार से वंचित कर देना चाहिए, बल्कि उसकी उत्पादकता का सम्मान करते हुए सहयोगी रख अपनाया जाना चाहिए।

प्रस्तुत शोध-पत्र में इन तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है कि आरम्भ से ही स्त्री को एक इकाई के रूप में नहीं देखा जा कर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को नकारा गया है। हमारे समाजीकरण की प्रक्रिया में इसकी जड़े मौजूद हैं। बेटी को बचपन से ही स्त्री बनाते हुए बड़ा किया जाता है, उसे लड़की की तरह बैठना-उठना, चलना-फिरना और व्यवहार करना सिखाया जाता है। लड़की को कोमलता, नाजुकता और सौम्यता की ओर आकर्षित किया जाता है। तो लड़के को सबलता, कठोरता और अखड़ता की ओर। खिलौने इस भेदभाव को और भी ज्यादा बढ़ाने वाले होते हैं। रोने को लेकर पूर्वाग्रह स्त्री और पुरुष छवियों को गड़ते हैं। उनके खेल, खेल-स्थान, खेल समय आदि सब दोहरी मानसिकता के अनुभव होते हैं। लड़के को रक्षक एवम् लड़की को रक्षिता के रूप में पालित-पोषित किया जाना उन्हें परनिर्भर बनाता है। परन्तु वर्तमान परिस्थितियाँ कुछ बदलती हुई दिखाई दे रही हैं, जो स्वस्थ समाज की नींव की आशा का संचार करती हैं।

कुछ अनुभव बताते हैं कि जहां बालक और बालिका के व्यक्तित्व के विकास हेतु एक से अवसर व परिस्थितियाँ उपलब्ध हो सकी हैं वहां परिणाम भिन्न आए हैं। जैविक भिन्नता नर और मादा के रूप को विभाजित करती है परन्तु उसे मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी में नहीं बांटती। जीव शास्त्रीय विषमता होने के बावजूद बौद्धिक और नैतिक क्षमता दोनों में एक जैसी होती है। पुरुषों में स्त्रियोचित और स्त्रियों में पुरुषोचित गुणों का समावेश उन्हें आदर्श व्यक्तित्व बनाता है और स्वस्थ समाज निर्माण में अहम भूमिका निभा सकता है।

इस अध्ययन के बाद निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि लिंग का अर्थ, सामाजिक और जैविक दृष्टिकोण से बड़ा स्पष्ट है। सामाजिक दृष्टिकोण से यह शब्द समाज में स्त्री और पुरुष के कार्यक्षेत्रों और उनकी स्थिति को दर्शाता है तो दूसरी तरफ जैविक दृष्टिकोण से लिंग शब्द उनके लैंगिक अन्तर को दर्शाता है, जिसकी व्याख्या वैज्ञानिकता पर आधारित होती है। ये जैविक भिन्नता प्रकृति में स्त्री की स्थिति पुरुष से भिन्न करती है। इस आधार पर स्त्री को पुरुष से कमतर नहीं माना जाना चाहिए, बल्कि पुरुष की तरह मात्र एक मानव इकाई के रूप में

ही देखा जाना चाहिए। इस प्रकार समाज में स्त्री की दोगुनी और कमतर स्थिति के लिए कहा जा सकता है कि इसके लिए लैंगिक आधार नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक आधार अधिक उत्तरदायी हैं।

सन्दर्भ सूची

1. कस्तवार, रेखा, (2013), स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ- 25
2. डॉ0 सेसिलिया, दैनिक भास्कर, दिनांक 18.4.2002, शोध आलेख ।
3. वही
4. कस्तवार, रेखा, (2013), स्त्री चिन्तन की चुनौतियों, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-30
5. जोशी, मधु बी, (2001), विद्रोही स्त्री, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-46।
6. कस्तवार, रेखा, (2013), स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-30
7. वही, पृष्ठ-32
8. झा, अशोक, हंस, मार्च (2001), सबल स्त्री का शास्त्र, पृष्ठ-35
9. झा, अशोक, हंस, मार्च (2001), सबल स्त्री का शास्त्र, पृष्ठ. 34
10. थॉमस, डब्ल्यू0 आई0, (1907), सेक्स एण्ड सोसायटी, लन्दन, पृष्ठ-18
11. मेक्काबी, इलीनर, द डेवेलपमेंट ऑफ सेक्स डिफरेंसेज, पृष्ठ-23
12. सन्धान, अप्रैल-जून (2001), पृष्ठ-114
13. कात्यायनी व सत्यम, (2002), स्त्रियों की पराधीनता, राजकमल प्रकाशन, अनुवाद, पृष्ठ-10
14. हार्टमेन, हाईडी, (2002), मार्क्सवाद और नारीवाद के बीच अप्रिय विवाह, सन्धान, अप्रैल-जून, पृष्ठ-114
15. जैन, अरविंद, (2002), न्याय क्षेत्रे:अन्याय क्षेत्रे, राजकमल, पृष्ठ-15
16. कस्तवार, रेखा, (2013), स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ-45
17. कात्यायनी व सत्यम, (2002), स्त्रियों की पराधीनता, राजकमल प्रकाशन, अनुवाद पृष्ठ-102
18. सन्धान, अप्रैल-जून, (2001), पृष्ठ-125